हिन्दी साहित्य में संत काव्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना

तेजस्विनी चं. गुरूस्थलमठ*

DOI: https://doi.org/10.5281/zenodo.21438868

ABSTRACT

हिन्दी साहित्य में संत काव्य का स्थान बहुमूल्य है। संत कवियों ने अपनी कविताओं के द्वारा भक्ति एवं आध्यात्मिक संदेश दिया और साथ ही साथ समाज में व्याप्त अनेक समस्याओं का विरोध किया है। मध्यकालीन भारतीय समाज विभिन्न सामाजिक और धार्मिक विडंबनाओं से घिरा हुआ था। परिणामस्वरूप, संत काव्यधारा में प्रमुखता से सामाजिक रूढ़ियों, विसंगतियों और धार्मिक पाखंड जैसी समस्याओं पर प्रहार किया गया। संत साहित्य में संतों ने समानता का समर्थन किया है। संतों ने हमारी भारतीय संस्कृति को संरक्षित करके मानवीय मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश की। सभी धर्मों के लोगों की आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति के लिये प्रयास किया।

KEYWORDS: संत काव्य, सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक समन्वय, निर्गुण भक्ति, लोकभाषा.

प्रस्तावना:

मध्यकालीन भारतीय इतिहास में भक्ति आंदोलन एक युगान्तकारी घटना थी, जिसने न केवल धर्म और दर्शन, अपितु समाज, साहित्य और संस्कृति को भी गहराई से प्रभावित किया। विद्वान् सन् 1375 से 1700 तक की अवधि को सामान्यतः 'भक्ति काल' के नाम से जानते हैं। यह कालखंड भारतीय समाज के लिए गहन उथल-पुथल, राजनीतिक अस्थिरता और सामाजिक जड़ता का काल था। ऐसी विषम परिस्थितियों में, भक्ति आंदोलन ने आशा की एक किरण दिखाई।

इस आंदोलन की दो प्रमुख धाराएँ थीं - सगुण और निर्गुण। निर्गुण

* **तेजस्विनी चं. गुरूस्थलमठ,** अध्यापिका, हिंदी विभाग, के.एल.ई. संस्था, श्री मृत्युंजय कला और वाणिज्य महाविद्यालय, धारवाड़.

विचारधारा, जिसे 'संत काव्य' या 'ज्ञानाश्रयी शाखा' कहा जाता है, इस काल की सबसे प्रखर और क्रांतिकारी अभिव्यक्ति थी। इस धारा के नामकरण पर विद्वानों में मतभेद रहा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे 'ज्ञानाश्रयी शाखा' कहा, क्योंकि इन संतों ने ज्ञान को ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना। वहीं, डॉ. रामकुमार वर्मा ने इसे 'संत काव्य' नाम दिया, जो अधिक प्रचलित हुआ। 'संत' शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए परशुराम चतुर्वेदी का मत सर्वाधिक समीचीन लगता है। वे लिखते हैं: "संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने 'सत' रूपी परम तत्त्व का अनुभव कर लिया हो... जो संत स्वरुप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फल स्वरुप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो वही संत है।"1 इस प्रकार, जहाँ सगुणोपासकों के लिए 'भक्त' शब्द रूढ़ हो गया, वहीं निर्गुणोपासकों के लिए 'संत' शब्द का प्रयोग किया गया।

यद्यपि संत परंपरा के बीज दक्षिण भारत के आलवार-नायनार संतों में मिलते हैं, तथापि इसे उत्तर भारत में व्यापक रूप से प्रचारित और प्रसारित करने का श्रेय स्वामी रामानंद को जाता है। रामानंद ने ही भक्ति के द्वार सभी जातियों और वर्गों के लिए खोल दिए। उनके शिष्य-मंडल में कबीर (जुलाहा), रैदास (चमार), धन्ना (जाट) जैसे तथाकथित निम्न जातियों के संत शामिल थे। संत काव्य परंपरा के प्रवर्तक और प्रतिनिधि कवि कबीरदास हैं। उनके अतिरिक्त रैदास, गुरु नानक, दादू दयाल, सुंदरदास, मलूकदास, रज्जब आदि संतों ने इस परंपरा को अपनी प्रखर वाणी से समृद्ध किया।

इन संतों का योगदान केवल आध्यात्मिक या साहित्यिक नहीं है; इसका मूल उद्देश्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना का जागरण था। यह केवल एक धार्मिक आंदोलन नहीं, बल्कि एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति थी। अधिकांश संत निरक्षर होते हुए भी 'अनुभव' के धनी थे। उन्होंने अपने अनुभवों को साखी, सबद और रमैनी के रूप में समाज के सामने रखा। उनकी भाषा संस्कृत के पांडित्य के बजाय आम बोलचाल की 'सधुक्कड़ी' या 'पंचमेल खिचड़ी' थी, जिसने सीधे जनमानस को छुआ और मध्यकालीन समाज को झकझोर कर जागृत किया।

संत काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि:

संत काव्य के उद्भव और विकास के मूल में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ थीं। 13वीं से 17वीं शताब्दी का भारत राजनीतिक रूप से अस्थिर था। तुर्क-अफगान आक्रमणों और सल्तनत काल की स्थापना ने भारतीय जनमानस को त्रस्त कर दिया था। समाज में एक ओर इस्लामी कट्टरता का प्रसार हो रहा था, तो दूसरी ओर हिंदू समाज जाति-प्रथा, छुआछूत और जटिल कर्मकांडों के जाल में फँसा हुआ था।

सामाजिक स्तर पर, वर्ण-व्यवस्था अत्यंत कठोर हो चुकी थी। तथाकथित निम्न जातियों का जीवन नारकीय था। धार्मिक क्षेत्र में, पंडितों और मुल्लाओं ने

धर्म को अपने स्वार्थ-सिद्धि का साधन बना लिया था। हिंदू धर्म में मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, तीर्थयात्रा और कर्मकांड का बोलबाला था, जबकि इस्लाम में भी बाहरी आचारों (नमाज़, रोज़ा, अज़ान) पर अत्यधिक ज़ोर था।

दार्शनिक स्तर पर, शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त का प्रभाव था, जो आम जनता के लिए अत्यंत शुष्क और बौद्धिक था। वहीं, नाथपंथ का हठयोग भी जटिल और काया-साधना पर आधारित था। इन परिस्थितियों में, संत कवियों ने एक ऐसे मार्ग का सूत्रपात किया जो 'सहज' था। उन्होंने इन सभी से सार-तत्व ग्रहण किया-अद्वैत से 'एकेश्वरवाद', नाथपंथ से 'आंतरिक साधना' और सूफियों से 'प्रेम' (इश्क-हकीकी)-और उसे भक्ति के सरल रूप में जनता के सामने पेश किया। यही कारण है कि संत काव्य तत्कालीन समाज की सबसे बड़ी आवश्यकता बनकर उभरा।

संत काव्य की सामाजिक चेतना:

संत काव्य मूलतः एक सामाजिक विद्रोह का काव्य है। इन संतों ने समाज-सुधारक का दायित्व निभाया और भक्ति को सामाजिक चेतना और सुधार से जोड़ा। उन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त विसंगतियों, कुरीतियों और धार्मिक विषमताओं पर तीखा प्रहार किया।

1. जाति-प्रथा और वर्ण-व्यवस्था पर प्रहार:

संतों की सामाजिक चेतना का सबसे मुखर स्वर जाति-भेद के विरोध में सुनाई पड़ता है। मध्यकालीन समाज जातियों में बुरी तरह विभाजित था। कबीर और रैदास स्वयं तथाकथित निम्न जातियों से आए थे, अतः उन्होंने इस दंश को गहराई से भोगा था। कबीर ने ज्ञान को जाति से श्रेष्ठ मानते हुए कहा:

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥2

उन्होंने वर्ण-व्यवस्था के आधार पर श्रेष्ठता का दावा करने वालों को चुनौती देते हुए कहा कि सभी मनुष्य एक ही प्रक्रिया से जन्म लेते हैं:

एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उत्पन्ना, कौन बाम्हन कौन सूदा॥3

संत शिरोमणि रैदास ने जातिगत भेदभाव को मानवता का शत्रु और एक भयंकर रोग बताया, जो मनुष्यता को खा जाता है:

जात पांत के फेर मंहि, उरझि रहइ सब लोग।
मानुषता कूं खात हइ, रैदास जात कर रोग॥4

2. धार्मिक पाखंड एवं बाह्याडंबरों का खंडन:

संत कवियों ने हिंदू और मुसलमान, दोनों धर्मों में व्याप्त पाखंड और बाहरी दिखावे का पुरजोर खंडन किया। उनका मानना था कि ईश्वर न तो मंदिर में है और न ही मस्जिद में; वह तो घट-घट वासी है। कबीर का यह पद

उनकी इसी सोच का परिचायक है:

मोको कहां ढूँढे रे बन्दे, मै तो तेरे पास में।
ना तीरथ मे ना मूरत में, ना एकान्त निवास में।
ना मंदिर में ना मस्जिद में, ना काबे कैलास में॥5

उन्होंने मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, व्रत, बलि, नमाज़, अज़ान आदि सभी कर्मकांडों को व्यर्थ बताया। उन्होंने हिंदुओं के पाखंड पर चोट करते हुए कहा:

पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजूं पहार।
ताते यह चाकी भली, पीस खाय संसार॥6

इसी प्रकार, मुसलमानों के बाहरी आचार पर भी उन्होंने तीखा व्यंग्य किया:

कांकर पाथर जोरि कै, मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय॥7

कबीर ने पूजा, सेवा, नियम और व्रत को 'गुड़ियों का खेल' (गुड़ियन का-सा खेल) कहकर आध्यात्मिक रूप से मूल्यहीन बताया, जब तक कि प्रिय (ईश्वर) का साक्षात्कार न हो जाए।

3. गुरु की महत्ता की स्थापना:

संतों ने समाज में पुरोहितों और मुल्लाओं के वर्चस्व को तोड़ा। उन्होंने ईश्वर-प्राप्ति के लिए किसी मध्यस्थ (ब्राह्मण या मौलवी) की आवश्यकता को नकार दिया और उसके स्थान पर 'गुरु' को प्रतिष्ठित किया। यह गुरु कोई जाति-विशेष का नहीं, बल्कि 'सद्गुरु' अर्थात् सत्य का ज्ञान रखने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता था। संतों ने गुरु को गोविंद (ईश्वर) से भी बड़ा माना, क्योंकि गुरु ही अज्ञान के अंधकार से निकालकर ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग दिखाता है:

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय॥8

यह गुरु-महिमा सामाजिक दृष्टि से एक क्रांतिकारी कदम था, जिसने ज्ञान पर ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती दी।

संत काव्य की सांस्कृतिक चेतना

संत काव्य ने न केवल सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया, बल्कि एक नई समन्वित संस्कृति (Composite Culture) की नींव भी रखी। उन्होंने समाज में व्याप्त विखंडता के स्थान पर एकता, प्रेम और सद्भावना को महत्व दिया।

1. हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास:

मध्यकालीन भारत की सबसे बड़ी सांस्कृतिक चुनौती हिंदू और इस्लाम के बीच बढ़ता वैमनस्य थी। संत कवियों, विशेषकर कबीर और नानक ने, दोनों धर्मों के मूल तत्वों को एक करते हुए एक साझा मंच तैयार करने का प्रयास

किया। उन्होंने राम और रहीम, केशव और करीम को एक ही ईश्वर के दो नाम बताया:

हिंदू कहें मोहि राम पियारा, तुरक कहें रहिमाना।
आपस में दोउ लरि-लरि मूए, मरम न कोउ जाना॥9

उन्होंने दोनों धर्मों के ठेकेदारों को फटकारते हुए कहा कि ईश्वर इन भेदों से परे है। यह प्रयास भारतीय संस्कृति में 'सर्वधर्म समभाव' की स्थापना का एक महान प्रयास था।

2. जन-भाषा (लोकभाषा) की प्रतिष्ठा:

संतों का सबसे बड़ा सांस्कृतिक योगदान 'लोकभाषा' को साहित्य और दर्शन की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना था। इससे पूर्व, धर्म और ज्ञान की भाषा 'संस्कृत' थी, जो आम जनता की समझ से परे थी। संतों ने जानबूझकर संस्कृत के पांडित्य का त्याग किया और अपनी बात आम जनता की भाषा में कही।

उनकी भाषा को आचार्य शुक्ल ने 'सधुक्कड़ी' (घुमक्कड़ संतों की भाषा) और डॉ. श्यामसुंदर दास ने 'पंचमेल खिचड़ी' कहा, जिसमें अवधी, ब्रज, राजस्थानी, पंजाबी, खड़ी बोली आदि भाषाओं का मिश्रण था। भाषा का यह 'लोकतांत्रिक' स्वरूप उनकी सांस्कृतिक चेतना का प्रमाण है। वे सीधे जनमानस तक पहुँचना चाहते थे, और इसमें वे पूर्णतः सफल रहे।

3. मानवीय और नैतिक मूल्यों की स्थापना:

संतों ने किसी विशेष धर्म के बजाय 'मानव धर्म' की स्थापना पर बल दिया। उनके अनुसार, सबसे बड़ा धर्म मानवता, प्रेम, सत्य, करुणा और सदाचार है। उन्होंने शास्त्रीय ज्ञान के बजाय 'ढाई आखर प्रेम' को श्रेष्ठ माना:

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥10

उन्होंने सत्य को सबसे बड़ी तपस्या और करुणा को ही धर्म का मूल बताया। मलूकदास ने 'अजगर करै न चाकरी' कहकर और कबीर ने 'साईं इतना दीजिये' कहकर सादे जीवन और संतोष (अपरिग्रह) के सांस्कृतिक मूल्य को स्थापित किया।

4. दार्शनिक-सांस्कृतिक आधार (समन्वय):

संतों की सांस्कृतिक चेतना उनके दार्शनिक समन्वय में भी दिखती है। जैसा कि मूल आलेख में संकेत है, उनके विचारों पर कई स्रोतों का प्रभाव था:

- उपनिषद् (अद्वैत वेदान्त): ईश्वर एक है, वह सर्वव्यापी है ('अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' का सहज रूप)।
- नाथपंथ: हठयोग की तकनीकी शब्दावली (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना), आंतरिक साधना और गुरु-महिमा।

- इस्लाम (सूफी दर्शन): एकेश्वरवाद और ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम (तसव्वुफ़)।

इन संतों ने इन सभी दार्शनिक धाराओं के जटिल और शुष्क तत्वों को त्यागकर, उनके सहज और मानवीय पक्षों को ग्रहण किया और एक ऐसी 'सहज साधना' का मार्ग प्रशस्त किया, जो हर आम आदमी के लिए सुलभ थी।

उपसंहार

मध्यकालीन भारत में संत काव्य केवल एक साहित्यिक धारा नहीं, बल्कि एक सशक्त सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन था जिसने सोई हुई मानवता को जगाया। संत कवियों ने जाति-प्रथा, धार्मिक पाखंड और पुरोहितवाद पर प्रहार किया, धर्म को आम आदमी के 'हृदय' में प्रतिष्ठित किया, लोकभाषा को सम्मान दिलाया और हिंदू-मुस्लिम एकता की नींव रखी। भले ही ये संत समाज को पूरी तरह न बदल पाए हों, लेकिन उन्होंने भारतीय मानस में तर्क, समानता और मानवतावाद के जो अमूल्य बीज बोए, वे आज के सांप्रदायिक तनाव और जातिगत वैमनस्य के युग में पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक और मार्गदर्शक हैं।

संदर्भ सूची:

1. उत्तरी भारत की संत परम्परा - आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद
2. कबीर ग्रंथावली - श्यामसुंदर दास, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग - पृष्ठ संख्या 141
3. वही - पृष्ठ संख्या 85
4. दलित मुक्ति की विरासत: संत रविदास – डॉ. सुभाष चंद्र - पृष्ठ संख्या 40
5. कबीर ग्रंथावली – सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पृष्ठ संख्या 137-138
6. कबीर वाणी पीयूष - डॉ. कृष्णदेव शर्मा, पृष्ठ संख्या 133
7. कबीर ग्रंथावली सटीक - डॉ. पुष्पपाल सिंह, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 50
8. हिंदी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेंद्र, डॉ. हरदयाल - मयूर पेपर बैंक्स, इंदिरापुरम - पृष्ठ संख्या 115
9. कबीर ग्रंथावली – सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पृष्ठ संख्या 142
10. कबीर साहित्य की परख - परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार - पृष्ठ संख्या 72